आत्मकथ्य

❑ शान्ति सुमन

अपनी रचना-प्रक्रिया पर कुछ कहने से पहले अपने बारे में एक-दो बातें कहना चाहती हूँ। मेरा मूल नाम शान्तिलता है। शांति मेरी फुआ का दिया हुआ नाम है। उसकी ससुराल में इस नाम की एक लड़की पढ़-लिखकर मैट्रिक पास हुई थी। फुआ ने इस विश्वास से मेरा नाम शान्ति रख दिया कि मैं भी पढ़-लिखकर बड़ी बनूँगी। सुमन परिवार का दिया हुआ नाम है। मैंने दोनों नामों को अपने लिए रख लिया। पर यह सच है कि शांति सुमन ने कभी कोई नौकरी नहीं की। शान्तिलता में मेरी माँ के नाम के साथ लगा हुआ शब्द 'लता' है। उनका नाम जीवनलता देवी था। मेरी शिक्षा इसी नाम से हुई। इसी नाम से मैं व्याख्याता, रीडर और प्रोफेसर बनी तथा इसी नाम से 2004 ई० में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद से सेवामुक्त हुई।

यह बहुत अर्थ नहीं रखता कि मेरा जन्म कब हुआ। अर्थ इसमें है कि अपने रचनात्मक जीवन में मैंने क्या किया। इसी से लगी हुई एक जिज्ञासा हो सकती है कि मैं रचनात्मक कैसे हुई। जीवन की शुरूआत से लेकर किशोरावस्था तक मैंने जैसा जीवन जिया, जैसा देखा, सुना और समझा उसी से मुझको रचना की प्रेरणा मिली। मैट्रिक पास करने तक जैसी मेरी रचनायें रहीं उनको स्वतःस्फूर्त्त कहें भी तो '60 के पहले ही मेरी स्वतःस्फूर्त्तता समाप्त हो गयी थी और सामाजिक सरोकार के संवेदनशील अनुभव मुझमें घर बनाने लगे थे। जो लोग मुझको या मेरे जैसे रचनाकार को नहीं जानते हैं, वे मेरी या उन सबकी रचनाओं को और रचनाओं के माध्यम से मुझको और उन सबको जानने लगते हैं कि उन रचनाओं में हमारी साँसों के दस्तावेज लिखे होते हैं, उन साँसों के दस्तावेज जिनको हमने समकाल की सामाजिक परिस्थितियों में लिया और हम जीवित रहे। इसलिये रचनायें हमारे जीवित होने के सबूत होती हैं। हम रचनायें इसलिये लिखते हैं कि अपने जिन्दा होने का सबूत दे सकें। समाज भी कैसे जीता है, उसके जीने में कितना 'जीवन' है इसको भी रचनायें ही कहती हैं। जीवन को कहने के लिए रचना से अधिक कोई और माध्यम प्रामाणिक नहीं होता। आप यह समझिये कि कहीं लिखा हुआ पढ़ा था कि अकबर के राज्य में घरों में ताले नहीं लगाये जाते थे। उन दिनों चोरियाँ नहीं होती थीं। सबको करने के लिए काम थे और कोई अभाव नहीं था, पर 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास ने लिखा है कि उन दिनों वणिक को काम नहीं मिलता था, न सबको 'चाकरी' मिलती थी, यहाँ तक कि भिखारी

को भीख नहीं मिलती थी। तुलसीदास ने किसी के दबाव में यह सब नहीं लिखा क्योंकि उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया था कि 'तुलसी अब का होंहिहें नर के मनसबदार।' रचनाकार की यही अस्मिता, उसका यही स्वाभिमान उसकी पहचान है जो उसको समाज में अलग और ऊपर उठाती है।

2/3/79 को गीत पर एक वक्तव्य देते हुए मैंने कहा था कि गीत को मैं अपने से अलग नहीं मानती। ये शब्द, भाव, विन्यास कैसे और कहाँ से आते हैं यह तो केवल वही बता सकते हैं जो विवश करते हैं कुछ लिखने के लिये और इसमें संदेह नहीं कि जब वे आते हैं तो उन्हें बैठने के लिए जगह, तोड़ने के लिये तिनके और करने के लिये कुछ बातें मिल ही जाती हैं। यह रचनाकार का अपना एकांत है। उसकी अपनी इकाई है। सब कुछ व्यक्तिगत पर सामाजिक होता हुआ। जिस तरह पानी का कोई स्वरूप नहीं होता, वह जिसमें रखा जाता है, उसका स्वरूप ले लेता है, मेरी समझ से यही स्थिति अनुभूतियों का क्षणों के साथ है। यह व्यक्ति से समाज की ओर उन्मुख होनेवाली प्रक्रिया है। अर्थात् व्यक्तिपरक होकर भी सामाजिक।

यह बात ठीक है कि आज की जिन्दगी बहुत कुछ गीतात्मक न होकर गद्यात्मक होती चली जा रही है। कुँवर नारायण के शब्दों में – 'वह चेहरा जो मेरे लिये चाँद हो सकता था, भीड़ हो गया है।' लेकिन भीड़ से भी तो अलग होना ही पड़ता है। लाखों के शोर में कहीं कोई महीन स्वर होता है जो सब पर तैरता रहता है, वरना आदमी ऊबकर वहाँ से भाग खड़ा होता। सभी लोग नींद की गोलियाँ खाकर सो रहते। घरेलू परेशानियों के बीच मेरे लिए गीत एक बचाव का पक्ष भी रहा है – डूबते को तिनके का सहारा।

अब जहाँ तक नवगीत का सवाल है – मैं अपनी ओर से कुछ भी दावा नहीं करती। परन्तु वैसे कुछ लोग सहज रूप से कही गई बातों को भी दावा मानकर अर्थान्तर कर देते हैं। हाँ, समय की नब्ज को मैंने समझने की भरसक कोशिश की है। यों जिस समय भी जो कुछ लिखा जाता है, वह उस समय के लिये देश, काल, परिस्थिति को देखते हुए नया होता है। अपने पिछले से अलग करने के लिये उसे एक नाम दे दिया जाता है, जैसे – छायावाद, प्रयोगवाद। आज का यह नव भी कुछ इसी प्रकार का है। आज का युवा रचनाकार पाँच के बाद छठा, सातवाँ पेबन्द लगाने में विश्वास नहीं करता, बल्कि वह यथास्थिति को खोलना चाहता है। वह देखना चाहता है कि संबंधों के प्याज में केवल छिलका ही छिलका है या उसके अंदर कोई ऐसी ठोस वस्तु है जिसके चलते वह कहीं-कहीं बजाय खुश करने, गुदगुदी के एक शॉक (shock) देता हुआ सा लगता है।

आसपास, परिवार, नौकरी, भाग-दौड़, देशकाल की बदलती हुई परिस्थिति के बीच जहाँ भी निजता को ठेस लगी है, टूटने की स्थिति पैदा हुई है। मानवीय संबंधों में लगातार छीजते जाने की जगहों को मैंने गीतात्मक अनुभूतियों से भरने की कोशिश की है और लगा है कि टूटती साँसों की उम्र कुछ और बढ़ गई है। संभवतः यही टूटती निजता आज के गीत की सार्थकता भी है। मैं नवगीत को केवल आंदोलन नहीं मानती। यह गीत कविता का क्रमिक विकास है। सन् '६० के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण आज की कविता, युवा कविता, प्रतिबद्ध कविता, अकविता को नयी कविता से अलग होना पड़ा। यही स्थिति गीत के साथ भी थी जो उस समय की टूटती-बदलती मनःस्थितियों-परिस्थितियों को व्यक्त करने में सक्षम हो रहा था और नवगीत को आगे बढ़कर उसका दाय लेना पड़ा। मेरे लिये नया होने से पहले गीत होना जरूरी है और आदमी जिस आवोहवा में सांस लेता है उसके अनुरूप उसके चेहरे के भावों की तरह गीत-कविता की अंतर्वस्तु - कथ्य और शिल्प अपने आप हो जाता है।

इस बीच मेरे लेखन से सम्बद्ध कई प्रकार के प्रश्न लोगों ने पूछे। मैंने उनके उत्तर दिये। मैंने स्पष्ट किया कि मेरी साहित्य-यात्रा की शुरूआत माध्यमिक शिक्षा के दौरान बचपन में ही हो गयी थी, किन्तु इनमें स्थायित्व और स्तरीयता वर्ष 1960 के बाद आई। मेरी दृष्टि में किसी भी कला-संस्कृति का मूलाधार अर्थव्यवस्था होती है। स्पष्ट है, मूलाधार में परिलक्षित होने वाले परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब कमोवेश कला-संस्कृति में अवश्य होता है। इसलिए मेरी रचनाओं में भी समाज-व्यवस्था में आने वाली तब्दीलियों का कालानुसार प्रक्षेपण होता रहा है। वैचारिक अन्तर्वस्तु में आनेवाले परिवर्तन के समानान्तर मेरे गीतों में भी बदलाव आये हैं। यह प्रक्रिया सायास नहीं हुई है। वस्तुतः मैं वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक एकता में विश्वास करती हूँ। कविता कभी भी छन्दमुक्त नहीं होती। केवल छन्द के रूप बदल जाते हैं। मैं मूलतः गीतकर्त्री हूँ। गीत मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। जब तक जीवन है, जीवन में रागात्मकता है। इस दृष्टि से गीत की प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। यह श्रम शक्ति को संघटित और गतिशील करने तथा श्रम शक्ति के ह्रास से उत्पन्न तनाव और थकान को कम करने का सबसे कारगर हथियार है। गीत-रचना मेरी रचनात्मक विवशता है। मैं अपने भावों और विचारों को गीत के माध्यम से व्यक्त करने में सुविधा महसूस करती हूँ। हर रचनाकार अपनी सुविधा और अन्तर्निष्ठा के अनुसार ही अभिव्यक्ति का माध्यम (विधा) चुनता है। मेरा यह विश्वास भी है कि हर रचनाकार सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्ष में ही विकसित होता है। हर

समय प्रगतिशील और प्रतिगामी तथा जनवादी और जनविरोधी विचारधाराओं में तीव्र (हिंस्र) संघर्ष होता है। मैंने हमेशा अपने गीतों में विचारधारा के इसी द्वन्द्व और सामाजिक चेतना के अन्तर्विरोधों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। विभिन्न संघर्षशील इलाकों, तबकों और जनसमुदायों में मेरे गीतों को स्वीकार किया जाना इसका सबूत है।

गीत-रचना के अपने अनुशासन होते हैं। इसमें वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक एकता अगर नहीं है तो वह कम से कम गीत नहीं है। गीत-रचना को लोकप्रिय और संवेदनात्मक बनाने के लिये संगीत, लोकधुनों, लोक मुहावरों और लोक शब्दावलियों का प्रयोग करने के पक्ष में हूँ। और यह भी कि जन-जीवन से रचनाकार की दूरी वैचारिक रिक्तता का कारक होती है। समकाल के गीतों का वैचारिक आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और जनवादी विचारधारा है।

आज से दस वर्षों से पूर्व से ही यह कुप्रचार चल रहा है कि जनता और साहित्य के बीच विशेषकर गीत-कविता के बीच संवाद की स्थिति नहीं है। इसको एक बुर्जुआ प्रचार मानना चाहिये। सच तो यह है कि गीतों और कविता का जनता के साथ संपर्क पहले से अधिक प्रगाढ़ हो रहा है। इससे जनपक्षधर रचनाकार के दायित्व और बढ़ गये हैं। उनको रचना के साथ-साथ जनता का स्तरोन्नयन भी करना है। रमेश रंजक, नचिकेता, गोरख पांडेय, महेन्द्र नेह, विजेन्द्र अनिल, देवेन्द्र आर्य, सोम अधीर आदि गीतकारों के जन-समर्थन का यही कारण है।

यहाँ मुझको कल्पना के बारे में थोड़ी बात कहनी है। किसी भी रचना में ही नहीं, कलाकृति में भी कल्पना का उपयोग वस्तु सत्य के सापेक्ष होता है। कल्पनाशीलता कभी निरपेक्ष नहीं होती। यथार्थ को तराशने और उसमें सौन्दर्य भरने के लिये कल्पना एक श्रेष्ठ उपकरण है जबतक वह अमूर्त्तन से ग्रस्त नहीं होती है। यह रचनाकार की प्रतिभा और जीवन की गहरी पकड़ पर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में अनुभूति के साथ विचारों एवं समस्याओं को कैसे और कितना अभिव्यक्त कर पाता है।

मैं यह भी मानती हूँ कि लोकगीत और साहित्यिक गीत में कभी-कभी बहुत बड़ी विभाजक रेखा नहीं होती। कई लोकगीत शिल्प और संवेदना की दृष्टि से साहित्यिक गीत के समान लगते हैं। श्रेष्ठ गीत हमेशा पाठकों और श्रोताओं की संवेदना से एकरूप हो जाते हैं।

दुष्यंत कुमार की गजलों की लोकप्रियता और जनता से उनकी अंतरंगता को देखते हुए कई गीतकारों ने भी गजल लिखना शुरू कर दिया। वैसे थोड़े

अंतर को छोड़ दिये जायें तो वह गजल भी एक मुकम्मल गीत ही प्रतीत होती है। ऐसा कुछ बड़े गीतकारों ने भी किया है। मैंने गजल नहीं लिखी तो इसलिये नहीं कि गजल लिख नहीं सकती थी, अपितु इसलिये कि गीत लिखने के बाद गजल कहने की कोई आवश्यकता नहीं लगी। शिल्प का अन्तर यदि बहुत बड़ा अंतर है तो ठीक, अन्यथा दोनों की आत्मा का विभाजन संभव नहीं है। वैचारिक अन्तर्वस्तु दोनों की एक है। गीत और गजल दोनों में आज समसामयिकता अथवा समय और समाज जुड़ गये हैं। दोनों की सोच में यह बात है कि मानव-संघर्ष और मूल्यों से अलग होकर न तो गीत रचे जा सकते हैं, न गजल।

बदलते हुए समय के साथ गीत की रचना-विधि और स्वरूप में भी आवश्यकतानुसार बदलाव आता है। गीतों में लय छंद की एकोन्मुखता जरूरी मानी गई है। अधिकांश गीत इसी मान्यता को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं, पर ऐसे गीत भी लिखे गये हैं जिनमें एक ही गीत में लय छंद की एकता नहीं रखकर उनमें एकाधिक लय छंद की संहिति दीख पड़ती है। यह गीत के प्रभाव को कम नहीं करती, अपितु प्रयोगधर्मिता में अथवा रचना के दबाव में ऐसा हो जाना स्वाभाविक लगता है। परन्तु प्रयोग इस सीमा तक ही होना चाहिये कि गीत में किसी प्रकार की विषमता न आये। गीत को गद्यात्मकता की सीमा तक लाकर उसमें अनगढ़ता आने दिया जाए, उससे अच्छा है कि एकाधिक लय-छंद का व्यवहार कर उसकी स्वाभाविकता की रक्षा की जाए। गीत के प्रसंग में यदि प्रयोगशील होना असहनीय है तो बद्धमूल अनुशासन भी वांछित नहीं है।

हिन्दी में ऐसे गीत भी लिखे गये हैं या लिखे जा रहे हैं जो वस्तु और शिल्प दोनों में एकदम तात्कालिक हैं। उनका तात्कालिक प्रभाव जितना भी हो, पर वे गीत उस घटना-विशेष के साथ ही समाप्त हो जानेवाले हैं। कुछ ही घटनायें इतिहास में अपनी जगह बनाती हैं। शेष तो नदी की लहरों की तरह आती-जाती रहती हैं। ऐसे गीत कालजयी नहीं होते। कालजयी गीतों की हिन्दी में कमी नहीं है। जितने भी वे गीत हैं, उनसे ही गीत का इतिहास बनता है और गीतधर्मिता की भी रक्षा होती है। निश्चय ही तात्कालिकता सामाजिकता की सम्पूर्ण छवि नहीं होती। गीत मनुष्यता की प्रतिलिपि है। वह सर्वहारा क्रांति की जरूरत है। इस चिरन्तन गीत विधा की बुनियाद तब पड़ी जब मनुष्य ने अपने को श्रम से जोड़ा। अतएव श्रम-जीवन से उत्पन्न लय और नाद गीत विधा की अन्तःशक्ति है और विद्रोह/विरोध उसका मूल स्वर। इस अन्तःशक्ति और मूल स्वर के कारण ही गीत जन-जीवन की सांस्कृतिक मुक्ति का कामी है। गीत ने कभी अपने आंतरिक विद्रोह का ह्रास नहीं होने दिया। इस विद्रोह

ने समसामयिक प्रशासन एवं व्यवस्था तक को हिला दिया है। सामंती मानसिकता के कारण आदिकाल और भक्तिकाल में जगनिक और कबीर को भले वह स्थान नहीं मिला जो चंद और तुलसी को, पर इतने दबाव के बावजूद आज भी जगनिक और कबीर हमारे लिये प्रासंगिक हैं।

जनवादिता ने गीत को धार दी है। जनशक्ति का अपरिमित विस्तार ही गीत को गति दे सकता है। समझौते जैसे यथास्थितिवाद के लिये गीत में कोई संभावना नहीं होती। आकस्मिक नहीं है कि समसामयिकता और युगीन परिस्थितियाँ जनवादी गीतों के साथ जुड़ी हुयी हैं। इन गीतों की सोच में यह बात है कि गीत मानव-संघर्ष और मूल्यों से अलग होकर नहीं रचा जा सकता। जो गीतकार उनसे अलग होकर रचना करते हैं, निश्चय ही वे यथास्थिति के प्रति समर्पित, पलायनवादी, हताश रचनाकार हैं।

नये जन के उदय के साथ जनवादिता की प्रवृत्ति और स्वस्थ हुई थी। उसमें नये आयाम जुड़ने लगे थे। इसके पीछे नये प्रकार की क्रियाशील मानसिकता काम कर रही थी। इस मानसिकता का विरोध प्रशासन एवं प्रशासक से नहीं, व्यवस्था एवं व्यवस्था के ठेकेदारों से था। आज भी यह बहुत जरूरी है कि गीत की आंतरिक शक्ति की सुरक्षा के लिये उसके बाह्य संसार में प्रवृत्त और सक्रिय हुआ जाये। नवगीत का एक सकारात्मक पक्ष यह था कि तारसप्तक या अन्य सप्तकों ने जनभाषा का जो पक्ष लिया था, उसको नवगीत ने अन्यतम परिणति तक पहुँचाया। नवगीत की इस जनभाषी चेतना ने जनवादी गीतों में एक स्वस्थ भूमिका का निर्माण किया। यह सच है कि जनवाद का मूल्य समूह का मूल्य है, उसका क्रोध जनता का क्रोध है। ऐसी स्थिति में उसकी चुनौतियाँ भी जनता की चुनौतियाँ हैं।

आज इस अंतःपरीक्षण को भी साथ रखना है कि जनवादिता के नाम पर कोई मोहक भ्रम नहीं फैले। सामन्तों और इजारेदारों का विरोध करती हुई रचना सावधानी के अभाव में प्रतिक्रांतिकारी भी बन जा सकती है। राजनीति जब व्यवसाय बन जाये, सत्ताधारी और व्यवसायी में सीधी साँठ-गाँठ हो जाये तो युद्ध और शान्ति दोनों स्थितियों में ये शासन से जुड़ जाते हैं। भ्रष्ट व्यवस्था से जनता त्रस्त हो जाती है। जनवादी गीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मोहभंग की स्थिति को जीते हुए जनमानस जब ऊब रहा होता है, उस समय भी जनवादी गीतकार के मन में आत्मनिर्वासन या आत्महंता आस्थाएँ नहीं आतीं।

समय की तमाम चुनौतियों और संघर्षों को अपने गीतों में रेखांकित करती हुई मैं अपनी रचनाधर्मिता में सक्रिय हूँ। संघर्षों से जूझने के लिये मेरे

गीत मेरे औजार हैं। शोषण के खूनी जबड़ों को तोड़ना जहाँ इनका लक्ष्य रहा, वहीं जनता के हिस्से की धूप, उनके उजास, उनकी हरियाली, उनके वसन्त, उनके सुख-चैन, उनके खेत-खलिहान, उनके घर-पास-पड़ोस, उनकी हंसी और उनकी बची हुई जिन्दगी को बचा लेने की अनन्य आकांक्षा भी इन गीतों में भरी हुई है।

बदलते हुए समय के साथ रचना के आस्वाद बदलते रहते हैं। किन्तु उसके आस्वाद की शर्त्त समय-सापेक्षता ही होती है। मैंने अपने गीतों में संघर्षशील श्रमजीवी जन-जीवन के सकारात्मक पहलू को उजागर किया है। मेरे गीतों में प्राकृतिक उपादान और मानवीय प्रेम अपने पूरे सांस्कृतिक परिवेश में उभरकर आये है। इन गीतों में प्रेम की संहिति श्रमशक्ति को तीव्रतर बनाने के उपकरण के रूप में हुई है। यहाँ स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्षों में प्रेरणा और शक्ति का स्रोत है।

मैंने अपना लेखन-कार्य नवगीत-यात्रा के दौरान शुरू किया था। 'समसामयिकता के दबाव में गीत-जगत के विकासशील परिवर्तनों को लक्षित कर मैंने अपनी रचना-दिशा का चुनाव किया है। इस तथ्य की जानकारी मेरे गीतों की अन्तर्यात्रा करके प्राप्त की जा सकती है।

मीठनपुरा, वी० सी० गली
क्लब रोड, रमना,
मुजफ्फरपुर - 842002
(बिहार)
दूरभाष : 0621-2270895

36, ऑफिसर्स फ्लैट,
जुबली रोड, नार्दर्न टाऊन,
जमशेदपुर - 831001
(झारखण्ड)
मो० : 9430917356, 9204917148